एक तरफ संसद में पाठ्यपुस्तकों को कोमल मनों को दूषित करने वाली करार दिया जा रहा था तो दूसरी तरफ बुद्धिजीवी इन पर अपने-अपने विचार दे रहे थे। इस बहस में इन पाठ्यपुस्तकों को पढ़ने वाले बच्चों की राय जानना किसी के लिए संभव नहीं हो सका। यह लेख संसद में हुई बहस और इन पाठ्यपुस्तकों पर विद्यार्थियों की टिप्पणियों को एक-दूसरे के सामने रखकर देखता है। इस लेख के बहाने पाठक विद्यार्थियों की राय से भी परिचित हो पाएंगे। लेख बालक और उसके विकास से जुड़ी रूढ़ मान्यताओं को जांचने का अवसर भी देता है।

कैसी हों पाठ्यपुस्तकें

संसद के विचार और छात्रों की अपेक्षाएं

अलेक्स एम. जॉर्ज, मनीष जैन और पंकज पुष्कर

संसद ने अपनी यात्रा के छः दशक पूरे होने वाले सप्ताह में देश के छात्रों को एक बहुमूल्य उपहार दिया। संयोगवश संसद ने दोनों सदनों में एक महत्त्वपूर्ण बहस शुरू की और 'स्कूलों में क्या पढ़ाया जाए' और 'पाठ्यपुस्तकें कैसी हों' जैसे विषयों से अभूतपूर्व जुड़ाव दिखाया। यह बहस भले ही अनियोजित तरीके से शुरू हुई हो लेकिन इसके माध्यम से लोकतंत्र से जुड़े महत्त्वपूर्ण मुद्दों पर एक राष्ट्रीय विमर्श की जमीन तैयार हुई है। संसद की इस साधिकार भूमिका का हार्दिक सम्मान और स्वागत किया जाना चाहिए।

इस बहस ने देश को एक अवसर दिया है कि वह अपनी शैक्षिक मान्यताओं को जांचे। पुराने रूपक को दोहराएं तो इस विचार-मंथन में बहुत कुछ निकला है। कोशिश करें कि अन्त में इस विमर्श से एक व्यापक शुभ को निकाला और सहेजा जा सके। देखें कि कैसे इस बहस को बाल-केन्द्रित शिक्षा को मजबूत और सर्वव्यापी बनाने के जनतांत्रिक आयोजन की ओर मोड़ा जा सकता है। इस पूरी बहस की पृष्ठभूमि राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 से बनती है। यह बहस ध्यान दिलाती है कि एक राष्ट्रीय दस्तावेज एनसीएफ 2005 में स्वीकृत होने के बाद भी शैक्षिक सुधारों का रास्ता गंभीर चुनौतियों से भरा है। भारत में शिक्षा के सवाल से जुड़ी चुनौतियों और संभावनाओं को खंगालने के दो नए स्रोत हमारे सामने हैं। एक स्रोत है पुस्तकों पर हुई संसदीय बहस तथा दूसरा है इन पुस्तकों के पाठक-छात्रों की चिट्ठियां। ये दोनों अभिव्यक्तियां एक ही किताबों के बारे में बातें कर रहीं हैं इसलिए हमारे लिए मुमकिन है कि दोनों के विचारों को आमने-सामने रखकर देखा जाए। देश की सर्वोच्च लोकतांत्रिक संस्था और युवा संभावनाओं का मुखामुखम इस विमर्श को एक अर्थवान दिशा देगा।

संदर्भ स्पष्ट करने के लिए याद कर लें कि लोकसभा और राज्यसभा में यह चर्चा एनसीईआरटी की राजनीति शास्त्र की किताब में प्रकाशित संविधान निर्माण की प्रक्रिया को दिखाने वाले एक व्यंग्य-चित्र से शुरू हुई। इस कार्टून में संविधान निर्माण में देरी के मसले को डॉ. अंबेडकर और नेहरू की मदद से दिखाया गया है। हर व्यंग्य-चित्र की तरह इस कार्टून के कई पाठ हो सकते हैं। जब कोई चित्र किसी पुस्तक में होता है तो विद्यार्थी उसे एक बार और किसी एक तरीके से नहीं बल्कि बार-बार और अलग-अलग तरीके से देखता है। उसके पास अवसर होता है कि वह चित्र को किताब के पूरे संदर्भ में रखकर देखे। इस तरह चित्र और कार्टून जैसी चीजें पुस्तकों में कई शिक्षाशास्त्रीय उद्देश्यों को पूरा करने में मदद करती हैं। लेकिन, बहस की शुरुआत में पाठ्यपुस्तकों में कार्टूनों की वास्तविक भूमिका और सन्दर्भ को नहीं देखा जा सका।

पुस्तकों में कार्टून-विशेष का सवाल संसद में उठा तो चर्चा कुछ इस तरह हुई जैसे कि किताब के अन्दर कार्टून नहीं बल्कि कार्टून के अन्दर किताब छुपी हो। किताबों पर चर्चा के दौरान जो निष्कर्ष निकाले गए उन पर हड़बड़ी और इतर चिंताओं की लम्बी छाया थी। हड़बड़ी और चिंता के साथ ध्यान से देखना-सुनना, संतुलित संवाद करना सब कुछ मुश्किल हो जाता है। इसी सजगता का अभाव था कि बाबासाहब अंबेडकर के न्यायबोध और उनके प्रिय अध्यापक जॉन डिवी **(टिप्पणी 1)** के शिक्षाशास्त्र से प्रेरित पुस्तकों पर डॉ. अंबेडकर के विरोधी होने का आरोप लगा। डॉ. अंबेडकर के समाज दर्शन और जॉन डिवी के शिक्षाशास्त्र से सीखा जा सकता है कि ज्ञान-निर्माण की प्रक्रिया में अनुभवों का इस्तेमाल करना तथा सामाजिक रूप से मान्य विमर्शों पर प्रश्न उठाना कितना महत्त्वपूर्ण है। डॉ. अंबेडकर आजीवन स्वतंत्र अभिव्यक्ति, लोकतांत्रिक शिक्षा, विवेकपूर्ण परीक्षण और मुक्त चिंतन के प्रखर समर्थक रहे। संसदीय बहस को देखने पर अखरता है कि पूरी चर्चा में इन मूल्यों का संज्ञान किसी ने नहीं लिया।

अलेक्स एम. जॉर्ज

लेखक कक्षा से 9-12 की पाठ्यपुस्तकें तैयार करने वाले दल के सदस्य थे। वे 'टीचिंग सोशल साइन्स इन स्कूल्स' (सेज पब्लिकेशन्स, 2009) के लेखक भी हैं।

मनीष जैन

'19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से नागरिकशास्त्र की पाठ्यचर्या और नागरिक का विचार' पर शोध प्रबंध, 10 वर्ष तक शिक्षण कार्य, एससीईआरटी, दिल्ली के साथ कक्षा 6-8 पाठ्यपुस्तक निर्माण में भागीदारी। आजकल अम्बेडकर विश्वविद्यालय, दिल्ली में अध्यापन कर रहे हैं।

पंकज पुष्कर

एनसीईआरटी की राजनीति शास्त्र की पाठ्यपुस्तक समितियों में सदस्य रहे। उत्तराखंड में राजनीतिशास्त्र के प्राध्यापक हैं। भाषा, लोकतंत्र और ज्ञानमीमांसा के रिश्तों पर विकासशील समाज अध्ययन पीठ (सीएसडीएस) की शोध परंपरा के साथ जुड़ कर अनुसंधानरत हैं।

पाठ्यपुस्तकों में तीनों सदस्यों की सामूहिक भूमिका एनसीएफ 2005 की भावना के अनुसार शिक्षाशास्त्रीय नवाचार लाने वाले एक छोटे कार्यदल की रही है। इस टोली से politics.ncert@gmail.com पर संपर्क किया जा सकता है।

छात्रों की चिंता और छात्र अभिव्यक्ति की अनुपस्थिति

ये किताबें जिन बुनियादी उसूलों को मानकर तैयार हुई थीं बहस में उन्ही की अनदेखी हुई। इसी के साथ पूरी बहस का एक महत्त्वपूर्ण पहलू यह है कि जिन छात्रों की चिंता के इर्द-गिर्द पूरी बहस खड़ी हुई उनके मत को जानने की कोई कोशिश नहीं हो सकी। छात्र पाठ्यपुस्तकों से जुड़ा एक अहम् पक्ष है और इस पक्ष की अभिव्यक्ति पर बहस में कोई नोटिस नहीं ली गई।

छात्र, शिक्षक और लेखकों के बीच संवाद-विरलता की समस्या हमारे शैक्षिक चिंतन और नियोजन में हाशिए पर रही है। शिक्षा से जुड़े सभी पक्षों के बीच संवाद के एक संभव उपाय के रूप में राजनीति शास्त्र की लेखन टोली ने पुस्तकों में एक ई-मेल का पता (politics.ncert@gmail.com) दिया। हर किताब की शुरुआत में लेखन टोली ने छात्रों से बेबाक राय और आलोचनात्मक टिप्पणी भेजने का अनुरोध किया। पाठकों की यही टिप्पणियां हमें एक झलक देते हैं कि इन किताबों ने छात्रों पर क्या और कैसे असर डाले। यकीनन ये स्वेच्छा से लिखी चिट्ठियां हैं। भारत जैसे बहुस्तरीय देश में इन चिट्ठियों से मिले फीडबैक का अपनी जगह महत्त्व है लेकिन तमाम सीमाओं के बीच। हम अक्सर कल्पना करते कि काश हमारे

पास छात्रों के एक प्रतिनिधि नमूने के पास जाकर जांचने का अवसर होता कि इन किताबों से उनका क्या रिश्ता है। यह काम विधिवत अनुसंधान से ही संभव है, इन चिट्ठियों से नहीं। ये चिट्ठियां इस कल्पना के साकार होने तक संभावनाओं की दिशा का बोध जरूर करवाती हैं। यह देखना दिलचस्प है कि जो किताबें माननीय सांसदों में भय और चिंता पैदा करती हैं, उनके बारे में छात्रों के विचार क्या हैं। छात्रों के बयान हमें इस विमर्श को आगे बढ़ाने के रास्ते सुझाते हैं। भारत को युवाओं का देश कहा जा रहा है। ऐसे में अपनी युवा संभावनाओं के विवेक पर भरोसा रखना हमें कई चिंताओं से बाहर ला सकता है।

बाबासाहब की मूर्ति के पीछे कौन छिपा है?

शिक्षा से जुड़े बहुत से कार्यकर्ताओं और बुद्धिजीवियों को आज लग रहा है कि बाबासाहब अंबेडकर के नाम पर लोकतांत्रिक शिक्षा के एक बड़े प्रयोग को निशाना बनाया जा रहा है। असल में राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 की रोशनी में इन किताबों को सामाजिक न्याय और समता के संवैधानिक मूल्यों की बुनियाद पर खड़ा करने की कोशिश की गई थी। भारत में पाठ्यपुस्तकों की प्रचलित परिपाटी पंडिताऊ किस्म की रस्म-अदायगी और उपनिवेशवादी आरोपण के बीच पली-बढ़ी है। पाठ्यपुस्तकों के ऊपर जिम्मेदारी होती है कि वे छात्रों में 'ज्ञान की खोज' और 'न्याय की चाहना' को रोचक तरीके से आगे बढ़ाएं। भारत में ऐसी पाठ्यपुस्तकें बनाने की परंपरा अभी भी अपने शुरुआती दौर में है। जिन पुस्तकों पर डॉ. अंबेडकर की अवमानना के आरोप लगे वे पुस्तकें स्वतंत्र चिंतन और समता के मूल्यों को बढ़ावा देने के तौर-तरीके खोजने-बनाने के संकल्प के साथ तैयार की गईं हैं। यह कल्पना करना मुश्किल नहीं है कि ऐसी पुस्तकों को पढ़े बिना खारिज करने की कोशिश पर डॉ. अंबेडकर और उनके महान शिक्षाविद् अध्यापक जॉन डिवी की क्या प्रतिक्रिया हुई होती। **(टिप्पणी 2)**

11 मई को संसद के दोनों सदनों में बहस हुई। लोकसभा में 14 मई को दोबारा यह विषय उठा और लम्बी बहस हुई। 14 मई की बहस अपनी प्रकृति में अनूठी है। इस दिन की बहस में डॉ. अंबेडकर का कोई खास जिक्र नहीं था। कुछ सांसदों ने सदन में डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स किताब के कुछ कार्टूनों की फोटोप्रतियां वितरित की और लोकसभा अध्यक्ष से चर्चा के लिए आग्रह किया। स्वयं मानव संसाधन मंत्री ने अपने बयान में कहा कि बड़ी संख्या में ये कार्टून आपत्तिजनक हैं और पाठ्यपुस्तकों के लिए अनुपयुक्त है। माननीय सांसदों ने चर्चा में अपनी चिंताओं के व्यापक दायरे को जाहिर किया। इन किताबों पर जो टिप्पणियां हैं वे मुख्यतः तीन किस्म के सवालों से उपजी हैं।

1) ये किताबें छात्रों में लोकतंत्र, राजनीति और राजनेताओं के प्रति कैसे रुझान को बढ़ावा देती हैं?
2) ये किताबें शिक्षाशास्त्र के जो तौर-तरीके अपनाती हैं वे कितने उचित और अर्थवान हैं?

और इन्हीं सवालों से सांसदों की प्रमुख चिंता निकलती है कि-

3) क्या ये किताबें सीधे-सरल बाल-मनों (इम्प्रेशनेबल माइंड्स) में जहर घोलती हैं?

ये सवाल गहरे सोच-विचार की मांग करते हैं। संसद ने इन महत्त्वपूर्ण सवालों को राष्ट्रीय चर्चा के केन्द्र में लाकर एक बड़ा काम किया। यह अलग बात है कि माननीय सांसदों ने जब इन सवालों के जवाब ढूंढ़ने की कोशिश की तो बिना जरूरी तैयारी के की। इस अनायास-अनियोजित बहस से यह जरूर हुआ कि देश अपने शीर्षस्थ राजनेताओं की शैक्षिक मान्यताओं से परिचित हो गया।

एनसीएफ 2005 के आइने में संसद की बहस

'ज्ञान क्या है', 'सीखना-समझना कैसे होता है', 'ज्ञान का निर्माण कैसे होता है' और इन सबमें 'पाठ्यपुस्तक की क्या भूमिका है', इन सवालों में गहरी अवधारणाएं छुपी हैं। यह विचार कि पाठ्यपुस्तक ज्ञान की

'एकमात्र', 'आधिकारिक' और सर्वोच्च स्रोत होती है, उपनिवेशवादी सोच की पैदाइश है। (देखें इसी अंक में कृष्ण कुमार जी का साक्षात्कार) उपनिवेशवाद के इस शेषांश को राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के माध्यम से प्रश्नांकित करना एक बड़ा काम था। इसी क्रम में समाज-संगत और बाल-केन्द्रित शिक्षा की पहल के लिए एनसीईआरटी को स्वायत्तता देना और पाठ्यपुस्तक निर्माण के काम पर नजर रखने की संस्थायी प्रक्रियाओं और कायदों का निर्माण यूपीए-एक की बड़ी उपलब्धि थी। इस लिहाज से राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 के माध्यम से भारत के स्वतंत्रता आन्दोलन के बचे काम को पूरा करने की ओर बड़ा कदम बढ़ाया गया। इस पहल ने अनुसंधान और अनुभव से उपजी इस समझ को मान्यता दी कि बालक 'कच्ची मिट्टी' या 'खाली घड़ा' नहीं बल्कि ज्ञान-निर्माण में सक्षम सहभागी होता है। एनसीएफ 2005 ने स्थापित किया कि 'पाठ्यपुस्तक' ज्ञान का भंडार नहीं बल्कि ज्ञान की खोज और निर्माण में छात्र की मदद के लिए एक (एकमात्र नहीं) औजार होती है। लेकिन जैसा कि लोकसभा की बहस से जाहिर हुआ अधिकतर माननीय सांसद पाठ्यपुस्तकों की रचना और उसकी भूमिका के बारे में औपनिवेशिक दौर की मान्यताओं को पाल-पोस रहे हैं। निस्संदेह यह शैक्षिक सुधारों की गतिशीलता के लिए चिंता पैदा करने वाला संकेत है।

एनसीएफ 2005 ने पाठ्यपुस्तक लेखकों के कंधों पर शैक्षिक सुधारों में योगदान करने की एक बड़ी जिम्मेदारी डाली थी। एनसीएफ 2005 ने देश के नामचीन विद्वानों को यह ध्यान दिलाया कि 'पाठ्यपुस्तक' को पठनीय और रोचक भी होना चाहिएं। एनसीईआरटी के तत्कालीन निदेशक कृष्ण कुमार ने राजनीति शास्त्र की पहली बैठक में चुनौती देने के अंदाज में कहा कि क्या आप एक ऐसी किताब बना सकते हैं जिसकी कोई कुंजी (गाइड) न बन सके। एनसीएफ 2005 विद्वानों और शिक्षाविदों को झकझोरता है कि क्या वे नई पीढ़ी की ऐसी किताबें बना सकते हैं जो रटने पर नहीं समझने पर जोर दें; जो बालक के स्कूली और सामाजिक अनुभव के विभाजन को खत्म कर सकें - उनके बीच सेतु बन सकें; जो छात्र को सीखने-समझने की प्रक्रिया में एक सक्रिय अभिकर्ता के रूप में स्वीकार करें; जो बालक के मनोविज्ञान और उसकी बदलती अभिरुचियों के प्रति अनजान और लापरवाह न हो; जो उनमें सवाल करने की, खोज करने की, खुद से सोचने की प्रवृत्तियों को कुचले नहीं बल्कि प्रेरित करें। एनसीएफ 2005 के बाद ऐसी किताबें बनाने की चुनौतियों को जिन्होंने भी स्वीकारा वे अनुभवहीनता की सामूहिक विरासत के बीच प्रयोगशीलता के साहस से भरे लोग थे। वे अनुभवहीन इसलिए थे क्योंकि ऐसी किताबों तक पहुंचने का कोई बना-बनाया रास्ता मौजूद नहीं था। इस तरह कोई हवाई यात्रा नहीं करनी थी, एक कच्चे रास्ते पर चलना था और कई बार रास्ता बनाना भी था।

यकीनन ऐसे प्रयासों में भूल-चूक की, उनको सुधारते रहने की, बेहतरी की गुंजाइश हमेशा रहती है। लगातार सीखने और सुधरने की इस परंपरा का संदर्भ भारत के स्वतंत्रता आंदोलन से बनता है जिसने देश को न केवल 'मुक्त' किया बल्कि 'स्व-तंत्र' विकास की चुनौती भी स्वीकार की। स्वतंत्रता आंदोलन की कोशिश थी कि देश की शिक्षा व्यवस्था औपनिवेशिकता से मुक्त हो। छात्रों की टिप्पणियां और संसद की बहस वे खिड़कियां हैं जिनसें हम स्वतंत्रता आंदोलन की इस विरासत के भविष्य को देख सकते हैं।

संसद की चिंता - राजनीति से नफरत सिखाती हैं किताबें

संसद की चर्चा से जाहिर है कि माननीय सांसदों की सबसे बड़ी चिंता यह थी कि ये किताबें राजनीति और राजनेताओं से नफरत करना सिखाती हैं। यह चिंता दीर्घजीवी नहीं है। यह किताबों को ध्यान से पढ़ने से दूर हो जाएगी। लेकिन इससे बाद भी इस चिंता के स्रोत और स्वरूप को समझ लेना जरूरी होगा। इस चिंता को व्यक्त करते हुए अकाली दल की सांसद हरसिमरत कौर बादल ने जो कहा उसका आशय था, ''अगर आज के छात्र राजनीति में शामिल होना नहीं चाहते, वे राजनेताओं और राजनीति के खिलाफ हैं तो इसका कारण ऐसी किताबें (भी) हैं।'' इसी तर्ज पर बहुत-सी और भी टिप्पणियां आईं। भाजपा के वरिष्ठ सांसद यशवन्त सिन्हा का कहना था, ''ये किताबें राजनीतिक वर्ग को नीचा दिखाती हैं। इन किताबों में राजनेताओं

पर बने सबसे खराब कार्टूनों का संकलन हैं। वे राजनीति और राजनेताओं से नफरत करना सिखाती हैं। सांसदों, विधायकों, समूची संसद, लोकतांत्रिक ढांचे और लोकतांत्रिक संस्थाओं का मजाक उड़ाती हैं। इससे लोकतंत्र खतरे में पड़ गया है।'' भाकपा के अनुभवी सांसद गुरुदास दासगुप्ता के विचार थे, ''ये कार्टून तानाशाही और सर्वाधिकारवाद को बढ़ाने की योजना के हिस्से हैं। ये 'सब चोर हैं' की भावना को और 'हर कोई खराब है' इस तरह की सनक को बढ़ावा देती हैं। तानाशाही इसी सिनिसिज्म से पैदा होता है।'' अन्ना द्रमुक के एम थम्बी दुराई की चिन्ता थी, ''हम युवाओं को राजनीति में आने के लिए प्रेरित कर रहे हैं। और ये किताबें... ? बच्चे और युवा राजनीति के बारे में भला क्या सोचेंगे? इनसे परिणाम यह होगा कि वे अराजकता की ओर बढ़ जाएंगे और युवाओं का लोकतंत्र में विश्वास नहीं रहेगा।'' संसद की चर्चा वास्तविक पाठ्यपुस्तकों से नहीं बल्कि किन्ही अन्य आंशकाओं से गहरे प्रभावित थी। लोकसभा में माकपा सांसद बसुदेव आचार्य ने पूछा, ''इस किताब का टाइटिल डेमोक्रेटिक पालिटिक्स - एक है। मुझे नहीं पता कि (डेमोक्रेटिक पालिटिक्स) नम्बर दो में क्या है?'' अपनी आशंका का परिचय देते हुए गुरुदास दासगुप्ता कहते हैं, ''नंबर दो में निंदा और चरित्रहनन (विलफिकेशन) होगा।'' ये बयान अब भारत की संसदीय कार्यवाही के इतिहास में दर्ज है। क्या माननीय सांसद महोदय पुस्तकों को पढ़कर इस आरोप की जांच करना चाहेंगे?



गड़बड़ हमारे संविधान में है या हमारे अंदर। पचास वर्षों के काल में नब्बे संशोधन कुछ ज़्यादा ही लगते हैं।

जब हर वक्ता ने किताबों के खिलाफ हमलावर रुख लिया तो नेशनल कांफ्रेंस के सांसद शरीफुद्दीन शारिक ने कुछ अलग विचार रखने चाहे। उन्हें तीखे विरोध का सामना करना पड़ा। उन्होंने हर मुमकिन कोशिश की लेकिन सांसदों के बहुमत ने श्री शरीफुद्दीन शारिक को बैठने के लिए मजबूर कर दिया। क्या यह अपने आपमें गंभीर चिंता की बात नहीं है? क्या माननीय सांसद-गण अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का सम्मान सदन के अन्दर भी नहीं करना चाहेंगे?

बिना पढ़े पुस्तक चर्चा

एनसीईआरटी की राजनीति शास्त्र की किताबों के बारे में चर्चा तो हुई लेकिन उन्हें पढ़े बिना। यह भी उल्लेखनीय है कि उक्त विचार रखने वाले अधिकतर सांसद उच्च शिक्षा प्राप्त और अनुभवसम्पन्न हैं। चिंताओं से ग्रस्त इन विचारों से और भी अनेक सांसदों ने अपने को संबद्ध किया। ये चिंताएं किसी और संदर्भ में अपनी जगह पर जायज और बहुत गहरी हो सकती है लेकिन क्या ये आरोप 'लोकतांत्रिक राजनीति' की 'छात्रों द्वारा बहु-प्रशंसित' किताबों पर लगाना न्यायसम्मत है। कहीं ऐसा तो नहीं कि किताबों के बारे में यह महत्त्वपूर्ण चर्चा सांसदों की पूर्व-चिंताओं से घिर कर धुंधला गई। वर्षों के शोध और सामूहिक श्रम के बाद तैयार किताबों के बारे में किसी तीखे निष्कर्ष पर पहुंचने से पहले उन्हें कम से कम एक बार पढ़ा-समझा जाए, यह अपेक्षा कोई बेजा तो नहीं। अब इस विमर्श के सामने दोहरी चुनौती है। एक ओर जरूरी है कि संसदीय बहस से जाहिर हुईं वाजिब चिंताओं के मूल कारणों को पहचाना और दूर किया जाए, दूसरी ओर जरूरी है कि राजनीति के अध्ययन को जीवन्त बनाने वाले प्रयासों को बचाया और बढ़ाया जाए। अगर जरूरी धीरज से काम लिया जाए तो मुमकिन है कि ये दोनों काम एक-दूसरे से जुड़े दिखाई दें। निष्पक्ष जांच होने पर संभव है राजनीति शास्त्र की इन किताबों में समस्या के स्थान पर समाधान दिखाई दे और ये किताबें चिंता पैदा करने की जगह दूर करने वाली साबित हों।

छात्रों का अनुभव राजनीति में रुचि जगाती हैं किताबें

इन किताबों का एक विश्वसनीय मूल्यांकन उन विद्यार्थियों के द्वारा संभव है जो इन किताबों के सुधि पाठक रहे हैं। ऐसे ही छात्रों की टिप्पणियां पुस्तकों के बारे में सांसदों की चिंताओं से अलग तरह की छवि बनाती हैं। इन छात्रों की चिट्ठियां कहती हैं -

कक्षा 10 की लोकतांत्रिक राजनीति ने मेरे अन्दर राजनीति शास्त्र के प्रति रुचि को जगाया है।

(रजत सोनी, 30.09.11)

ये शानदार (फेनोमेनल) हैं। शायद यह इकलौती किताब है जिसने मुझे यह सोचने के लिए मजबूर किया कि समाज जिस तरह से चलता है वैसे भला क्यों चलता है। अगर आपके पास इस तरह की किताबें हैं तो यह मुश्किल है कि आपको विषय से प्यार न हो जाए।

(सुजोत कौर, 9.9.11)

मेरा राजनीति से दूर तक कोई वास्ता नहीं है। मैं तो इन्जीनियरिंग का छात्र हूं लेकिन इस किताब को इतने दमदार और रोचक तरीके में लिखा गया है कि पढ़ते ही जाएं।

(गौरव, 22.6.11)

हांलाकि आर्ट स्ट्रीम को कभी भी ज्यादा महत्त्व नहीं मिला है लेकिन अब यह रोचक हो गई है।

(प्रियंका कपूर, 21.6.11)

इस पुस्तक ने मुझे देश के लोकतंत्र की संरचना और व्यवस्था के बारे में बहुमूल्य ज्ञान अर्जित करने में मदद की। पुस्तक की हर पंक्ति में गहरा अर्थ छुपा है। यह कम शब्दों में बहुत कुछ कहती है।

(सुरभि, 1.2.11)

हमने अपने और अन्य देशों के लोकतंत्र के बारे में बहुत कुछ सीखा।

(सुनिल, जम्मू, 15.10.10)

इसे पढ़ते हुए लगा जैसे कोई अध्यापक पास बैठा हो और मैं भारत के संविधान को आंतरिक रूप से समझ रही हूं। इसके दर्जनों पिक्चर और कार्टूनों से मैं भारतीय राजनीति की दशा और चुनौतियों के बारे में सोचने लगी हूं।

(सवनीत कौर, 2.7.09)

सच कहूं तो अब मैं राजनीति शास्त्र से प्यार करने लगी हूं। मुझे भारत में लोकतंत्र के पल्लवन (अनफोल्डिंग) से प्यार हो गया है। लेकिन मेरा एक नम्र निवेदन है कृपया अधिक से अधिक चित्र और कार्टून इस्तेमाल करो।

(सवनीत, 30.6.09)

न केवल यह किताब इटेरेस्टिंग और एंगेजिंग है बल्कि इसकी वजह से सिविक्स अब मेरा प्रिय विषय है। ये किताबें-

1. *छात्रों से पढ़ने के लिए नहीं कहती, फिर भी स्थितियों को अच्छी तरह समझा देती हैं।*
2. *छात्रों को हर पाइंट पर सवाल करने के लिए प्रोत्साहित करती हैं। समाज में जो कुछ गलत हो रहा है उसे अपने दिमाग में प्रश्नांकित करने को बढ़ावा देती हैं, यह नहीं कि समकालीन दुनिया के अप्रिय पक्षों के बारे में सूचनाएं-मान्यताएं लादना या उन पहलुओं को अनदेखा कर देना।*
3. *रुचिकर कार्टून और सत्यकथाओं से भरी हैं जो विभिन्न मसलों पर अपनी राय कायम करने का अवसर देती हैं।*

(आयशा, 21.3.6)

इसमें मुझे सबसे अच्छा यह लगा कि यह छात्रों पर लोकतंत्र की कोई परिभाषा थोपती नहीं और

न ही उन्हें उपदेश पिलाती है। यह हमें अपनी राय बनाने की आजादी देती हैं। पुस्तक की बुनियाद स्थितियों के वास्तविक रूप (जैसी वे हैं) पर रखी है, आदर्श या कल्पित रूप (जैसी वे होनी चाहिएं थीं) पर नहीं।

इस किताब ने मुझे अहसास कराया कि यह विषय भारत के एक प्रतिबद्ध नागरिक के रूप में मेरी जिन्दगी से कितनी करीब से जुड़ा है।

(नियति झामरिया, 8.1.8)

किताब ने मेरे अन्दर राजनीतिक व्यवस्था के बारे में दिलचस्पी पैदा की और सुधारों के बारे में सोचने के लिए प्रेरित किया। मैं कक्षा 11 में यकीनन राजनीति शास्त्र पढूंगी- अगर एक विषय के तौर पर नहीं, तो बेहतर समझ और जागरूकता के लिए तो जरूर।

(दीक्षा, 12.10.7)

अपने बारे में कहूं तो मैं एक ऐसी लड़की थी जो राजनीति से पूरी तरह से नफरत किया करती थी, उसे बोरिंग मानती थी लेकिन अब ऐसा नहीं है।

(सरीना टीना, 13.8.7)

इस किताब से मैं राजनीति शास्त्र से जुड़े समाचार समझने लगा। पहले ये मेरे सर के ऊपर से गुजर जाते थे।

(विशेष, 28.6.7)

ये चिट्ठियां कोई अंतिम निष्कर्ष नहीं बल्कि जांचने योग्य बहुत से सवाल और परिकल्पनाएं सुझाती हैं। इस लिहाज से ये चिट्ठियां भविष्य के अनुसंधान की बुनियाद रखती हैं। यहां फिर से सावधान हुआ जाए कि ये चिट्ठियां भारत जैसे देश की पूरी विविधता की झलक नहीं देतीं। न ही ये चिट्ठियां इस सवाल का ठीक-ठीक जवाब देती हैं कि इनमें से कितनी 'दलित छात्रों' ने लिखी हैं। हांलाकि यह जांच का विषय है कि अगर किताबें छात्रों के सामाजिक संदर्भ से जुड़ी हों, उन्हें बात करने का, सवाल पूछने का, अपनी समझ बनाने का मौका दें तो छात्रों के सभी वर्गों को तुलनात्मक रूप से ज्यादा पसन्द आती हैं या नहीं?

किताबों में अपनाए गए शिक्षाशास्त्र के नए तौर-तरीके कितने उचित और अर्थवान

इन किताबों में कार्टून बूझें (रीड द कार्टून), अखबारी कतरनें, पोस्टर, फिल्मों के जिक्र और साहित्य के हिस्सों जैसी सामग्री का प्रयोग करके राजनीति की पढ़ाई को रोचक और जीवन्त बनाने का प्रयास किया गया। ये सभी प्रयोग राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा 2005 से प्रेरित थे। लोकसभा की बहस में ऐसी टिप्पणियां भी सामने आईं जो इस प्रकार के नवाचार को बेमतलब और कई बार भड़काऊ मानती हैं। इन टिप्पणियों पर एक नजर डालते हैं।

शिक्षाशास्त्रीय सामग्री पर सांसदों की टिप्पणियां

''बड़ी संख्या में ये कार्टून आपत्तिजनक हैं और पाठ्यपुस्तकों के लिए अनुपयुक्त हैं।'' (मानव संसाधन मंत्री, कपिल सिब्बल) ''छात्रों से कार्टूनों की व्याख्या करने और पैराग्राफ लिखने के लिए कहा गया है।'' (भतृर्हरि महताब) ''लिखा है 'रीड द कार्टून' कुछ पढ़ो या न पढ़ो लेकिन कार्टून को जरूर पढ़ो।'' (लालू प्रसाद यादव) ''(छात्रों से) कहा जा रहा है कि डिसकस करो।'' (हरसिमरत कौर बादल) ''कार्टून्स को हमारी टैक्स्टबुक्स में शामिल किया गया है और बच्चों को पढ़ाया जा रहा है- आपत्ति इस पर है।'' (अनंत गंगाराम गीते)

एक माननीय सांसद ने 'राजनीति शास्त्र क्या है' पर दार्शनिक महत्त्व की टिप्पणी की। इस महत्त्वपूर्ण टिप्पणी

में समाज विज्ञानों के ज्ञानमीमांसागत आधार (एपिस्टेमोलॉजिकल बेसिस ऑफ सोशल साइंसेज) को लेकर विचार-विमर्श प्रस्तावित है। श्री टी.के.एस. एलेंगोवन का कहना था, ''जब किसी छात्र को दिन प्रतिदिन की घटनाओं के बारे में पढ़ाया जाए और उससे कहा जाए कि यह राजनीति शास्त्र है तो यह स्वयं विषय का मजाक उड़ाना है। कार्टून समाचारपत्र का नजरिया है, राजनीति शास्त्र नहीं। किताब को तुरंत वापिस लिया जाना चाहिएं...।''

शैक्षिक नवाचारों पर छात्रों के विचार

आइए अब इन्हीं मामलों पर देश के कुछ छात्रों की टिप्पणियां देखते हैं -

चित्रकथा ने किताब को रोचक बना दिया है। उन्नी-मुन्नी के सवाल विचारों को उकसाते हैं। मुझे सबसे अच्छे वे सवाल लगे जो किताब के हाशिए पर दिए गए हैं।

(सुजोत कौर, 9.9.11)

हम सभी छात्र इस पुस्तक के साथ एक अच्छे अनुभव से गुजर रहे हैं। किताब में नए विचारों खास कर कार्टून और पोस्टर के लिए धन्यवाद।

(एल्जा एलिजाबेथ, 13.8.11)

राजस्थान बोर्ड द्वारा एनसीईआरटी को लागू किया जाना बहुत उपयोगी है। नई पीढ़ी के लिए यह काफी उपयोगी है।

(रोहित मीणा, 6.8.11)

अगर इसमें और भी ज्यादा ग्राफिक इस्तेमाल किए जाते तो बेहतर रहता।

(प्रज्ञा कुलश्रेष्ठ, 31.7.11)

उन्नी-मुन्नी नाम के चरित्र और उनके सवाल बहुत रोचक हैं। इन्होंने मुझे सोचने के लिए मजबूर किया है।

(सौरभ वर्मा, 30.7.11)

बिना किसी अतिशयोक्ति के इस किताब को पढ़ना एक तीर्थयात्रा करने जैसा है। यह हर कदम पर आपको पहले से ज्यादा विवेक देती है। बड़ी संख्या में कार्टूनों ने इसे पढ़ने में मजेदार और देखने में आकर्षक बना दिया है। मैंने और मेरे सहपाठियों ने किताब की जिस बात को सबसे ज्यादा पसन्द किया वह है अपने निष्कर्ष निकालने की आजादी देना। किताब पूर्वाग्रह भरे निष्कर्ष छात्रों पर नहीं थोपती।

(सुमीत मल, असम 17.6.11)

मै आपके नए कदमों की प्रशंसा करता हूं :-
1- आपने खासतौर से सिविक्स की किताबों में खूब ग्राफिक और पोस्टर शामिल किए हैं।
2- मुन्नी और उन्नी नामक कार्टून करेक्टर छात्रों के मन के दर्पण जैसे हैं। वे ऐसे सवाल पूछते हैं जो सामान्य छात्र के मन में उभरते रहते हैं लेकिन वे हमेशा अध्यापकों से पूछने में हिचकते हैं।

(विमान्यु साहु 4.6.11)

कार्टून कल्पनाशीलता में बहुत मददगार हैं।

(दिप्तोनिल डेका 22.5.11)

मुझे किताब उन्नी-मुन्नी और 'रीड द कार्टून' जैसे फीचर्स के कारण बहुत इंटेरेस्टिंग लगी।

(मनन धीमान, 16.5.11)

कार्टून चित्रण अच्छा है। इससे मुझे अपने सवाल और जवाब गढ़ने में मदद मिली। कार्टूनों की मदद से मैं बेहतर समझ बना सका। अगले वर्ष में पुस्तक में एक परिवर्तन देखना चाहता हूं। इसमें जीवंत चित्र और रेखाचित्रों के साथ सूचनाएं होनी चाहिएं।

(सोमनाथ भट्टाचार्जी, 1.12.10)

किताब बहुत इंटेरेस्टिंग है। कार्टूनों को समझना बहुत अच्छा है। लेकिन किताब की कीमत बहुत ज्यादा है।

(पीयूष प्रकाश 20.11.10)

मुझे सिविक्स हमेशा बहुत बोरिंग लगती थी। इसमें हर वर्ष वही लोकतंत्र, संविधान जैसी चीजें बहुत ज्यादा उबाऊ अंदाज में होती थी। लेकिन एनसीईआरटी की किताबें वास्तव में बहुत अच्छी हैं। रेखाचित्र, गतिविधियां, वास्तविक उदाहरण और खासतौर में आर. के. लक्ष्मण के कार्टून बहुत अच्छे हैं। उदाहरणों ने हमारे दिमाग को सोचने में लगा दिया है।

(श्रुति, 21.8.10)

सिविक्स की हमारी किताब बहुत बोरिंग थी। लेकिन इस साल ग्राफिक्स, कार्टून और बाकी नए फीचरों ने किताब और विषय में एक रुचि पैदा कर दी। उम्मीद है कि आप अपना अच्छा काम जारी रखेंगे।

(तन्मय चुग, 2.3.10)

मुझे कार्टून वास्तव में अच्छे लगे। मुझे इनसे समझने के लिए साफ तसवीर मिली। पाठ के शुरू में कुछ लोगों की सच्ची कहानियां मुझे एक कल्पना लोक में ले गई। कुछ कहानियों ने तो मेरे मन को छू लिया। गतिविधियों भी बहुत रुचिकर हैं।

(राहुल कुमार, 27.1.10)

इस किताब की सर्वाधिक रोचक चीज इसके कार्टून और उदाहरणों की विविधता (वर्सेटायलिटि) है। कार्टून छात्रों को विषय के बारे में गहराई से (और जाहिर तौर पर) अपने आप सोचने में मदद करते हैं। कार्टून जो संदेश देते है उन्हें अगर साफ तौर से समझा जाए तो वह बहुत गहरा है।

(अमन सिंह, 21.12.09)

किताब के चित्र, कार्टून आदि मुझे राजनीति की दुनिया में ले गए

(अर्चना रामपुरिया, 30.8.09)

इसके दर्जनों पिक्चर और कार्टूनों से मैं भारतीय राजनीति की दशा और चुनौतियों के बारे में सोचने लगी हूं। मैं उन्नी-मुन्नी और कार्टून के सवालों के जवाब देने की कोशिश करती हूं। लेकिन मेरा एक नम्र निवेदन है कृपया अधिक से अधिक चित्र और कार्टून इस्तेमाल करो। ये दिमागी बोझ कम करते है।

(सवनीत, 30.6.09 तथा 2.7.09)

मैं कभी इतनी अच्छी और इंटरएक्टिव किताब से नहीं गुजरा। ऐसा लगता है कि नई पीढ़ी की आवश्यकताओं को समझने वाले कुछ शिक्षक सिविक्स के ऊपर से बोरिंग का टेग हटाने के लिए इकट्ठा हो गए हैं। इस किताब का सबसे खास फीचर छात्रों की रुचि बनाए रखते हुए जटिल चीजों को समझाने की क्षमता है।

(चन्दन कुमार, 17.6.09)

किताब ने हमें स्वयं सोचने के लिए तैयार किया। हमने सीखा कि किसी बात को हम केवल इसलिए स्वीकार न कर लें कि वह हमें बताई जा रही है। इससे राजनीति को पढ़ना वास्तव में बहुत आसान हो गया।

(विवियन ब्रिटो, 13.1.09)

भारतीय राजनीति वाले हिस्सों में पूर्वाग्रह-रहित दृष्टिकोण जाहिर है।

(सौम्या शंकर, 20.12.08)

इस पुस्तक का खास रुचिकर हिस्सा वे सवाल हैं जो कार्टूनों में से उपजते हैं।

(अनिमेश कुमार, 22.4.8)

मुझे किताब कार्टूनों के द्वारा पूछे सवालों की वजह से वास्तव में आनन्दप्रद लगी।

(मिनि लाहोटी, 27.3.8)

चित्रों और कार्टूनों का इस्तेमाल प्रभावपूर्ण है। कार्टूनों के नीचे ब्यौरा और ज्यादा देना चाहिए जिससे कक्षा में बहस करने के लिए पर्याप्त सूचना उपलब्ध हो।

(आनन्द, 25.2.8)

इसे पढ़ने में मैं ऐसा डूब गई कि याद ही नहीं रहा कि यह एक पाठ्यपुस्तक है। उन्नी-मुन्नी शानदार हैं। कार्टून अधिकतर समस्याओं पर एक चुटीला नजरिया उपलब्ध कराते हैं।

(नियति झामरिया, 8.1.8)

उन्नी-मुन्नी के चरित्रों ने किताबों को बहुत रोचक बना दिया है। उम्मीद है कि आप और भी रुचिकर चीजें शामिल करेंगे।

(सरीना टीना, 13.8.7)

यह किताब (सीखने की प्रक्रिया में) हमारी भागीदारी को ज्यादा शामिल करती है।

(अर्जुन विद्यार्थी, 28.7.7)

किताब में कोलाज और चित्र शानदार हैं। ये छात्रों को थियरी से अलग सोचने का वक्त देते हैं। एक छात्र का मस्तिष्क सबसे ज्यादा तब विकसित होता है जब उसे इस्तेमाल किया जाए, जब थियरी रटने की जगह छात्र अन्तर्वस्तु को समझते हैं। जब हम कार्टून और चित्रों को पढ़ते हैं तो हम अवधारणाओं को वास्तविक जिन्दगी में लागू करते हैं। इससे वैज्ञानिक दृष्टिकोण बढ़ता है।

(विशेष, 28.6.7)

लोकतांत्रिक राजनीति छात्रों तक जरूरी तथ्यों को ही नहीं पहुंचाती बल्कि उनमें तार्किकता की भावना भी पैदा करती है। कार्टूनों ने (सीखने का) एक उत्सवपूर्ण माहौल बनाया है। इस किताब ने अपने मकसद को पा लिया है। अब छात्र यह महसूस नहीं करते कि सिविक्स बोरिंग है।

(सिद्धार्थ, 1.6.7)

सरकारी दस्तावेजों के मूल हिस्से देना वास्तव में अमेजिंग है।

(हर्षिता, 29.5.7)

जब भी मैं बोर होता हूं मैं इस किताब को खोल लेता हूं और मेरा मूड अच्छा हो जाता है।

(अंकुर, 15.2.7)

इन सभी टिप्पणियों के बीच हमें दो मर्मस्पर्शी चिट्ठियां मिलीं। पहली चिट्ठी में एक छात्रा का कहना था कि-

राजनीति शास्त्र की किताब मुझे बहुत अच्छी लगी। लेकिन मैं आपको कुछ सुझाव देना चाहती हूं कि आप किताब को बहुत सारे कार्टूनों के साथ छापें।

(मीनाक्षी 15.4.11)

ऐसी चिट्ठियां अक्सर आती रही हैं। हम ऐसी चिट्ठियों के जवाब में छात्रों को कुछ और भी लिखने का आग्रह करते हैं। हमारी चिट्ठी का जो जवाब आया वह दिल को छूने वाला था। छात्रा ने लिखा- जवाब देने के लिए धन्यवाद। (असल में) मैं नेत्रहीन होने के कारण इन कार्टूनों और बॉक्स में दी अतिरिक्त सामग्री को नहीं देख पाती हूं। लेकिन मैं आपको इन्हें बनाने से रोक नहीं रही हूं। लेकिन, प्लीज इसके बारे में आप कुछ कोशिशें कीजिए।

आप पूरी तसवीर को इबारत में बदल सकते हैं और तसवीर के साथ दे सकते हैं, अगर आप चाहें तो।

(मीनाक्षी 19.4.11)

हम एक नेत्रहीन छात्रा के द्वारा किताबों में कार्टूनों को शामिल करने के आग्रह से विस्मित रह गए। इस चिट्ठी ने हमें सिखाया कि कार्टूनों के साथ ज्यादा इबारत दी जानी चाहिएं।

सीधे-सरल (इम्प्रेशनेबल) बाल-मनों में जहर घोलना

इन किताबों पर एक तीखा आरोप यह लगाया गया कि ये बच्चों के जल्दी असर में आ जाने वाले, सीधे-सरल मनों में जहर घोल रही हैं। यह आरोप बहुत ही जटिल मान्यताओं पर आधारित है। हमें बहुत-सी छुपी हुई मान्यताएं जांचने की जरूरत है। 'बालक के बारे में हमारी अवधारणा क्या है', 'बालक सीखता कैसे है', समय के साथ बालक के सीखने-समझने का संदर्भ कैसे बदला है? हम देखें कि हमारे जेहन में इन सवालों के क्या जवाब जमे बैठे हैं। लोकसभा की बहस हमारा परिचय सांसदों की मान्यताओं से करवाती है। माननीय सांसदों की टिप्पणियों पर उसी तरह की मान्यताओं का असर है जो भारतीय परिवारों में दादा-दादी, माता-पिता के मन में पैठी रहती हैं। इस बहस को आगे बढ़ाने से पहले अच्छा रहेगा अगर हम प्रसिद्ध मनोविश्लेषक सुधीर कक्कड़ का भारतीय समाज में लालन-पालन से जुड़े अध्ययन से अवगत हो जाएं।

हमें जांचने की जरूरत है कि हमारे मानसिक साम्राज्य में 'बालक' एक उपनिवेश तो नहीं है। भारतीय समाज में बच्चे की परिभाषा बड़ी लचीली है। हमारा सामाजिक मनोविज्ञान बालक के बारे में इतने संरक्षकवाद और रूढ़िवाद के बीच बना है कि भारतीय परिवारों में कई बार एक तीस वर्ष के युवा को भी अपने निर्णय लेने में सक्षम नहीं माना जाता। भारतीय वयस्क मन बालकों के प्रति प्रेम, दमित कामनाओं और मोह सबसे मिलकर बना है। भारतीय परिवारों में ऐसी कहानियां भरपूर मिल जाएंगी जिनमें किसी दादा या मां की चिंता के कारण घर की बच्ची या बच्चे को पढ़ने-घूमने या कुछ भी करने के लिए 'बाहर' नहीं जाने दिया गया। जांचना होगा कि माननीय सांसद-गण भी भारतीय मानस में बालक के प्रति बैठे अतिशय संरक्षणवाद और ययाति-ग्रंथि से तो प्रेरित/पीड़ित नहीं हैं। ऐसा तो नहीं है कि प्रगति की अशेष संभावनाओं की ओर बढ़ती युवा पीढ़ियों की क्षमताओं से अपरिचय ही चिंताग्रस्तता का कारण हो। हम जांचे कि क्या युवा छात्रों के मस्तिष्क कोमल ही होते हैं, सक्षम नहीं। क्या उनमें अपना कोई विवेक होता ही नहीं है? क्या वे चित्रों की भाषा को पढ़ना नहीं जानते? क्या वे कोरे कागज हैं, साफ स्लेट हैं, जिन पर जो भी इबारत लिखना चाहें लिख दी जाए? आइए देखते हैं कि माननीय सांसदों के विचारों में इन प्रश्नों के क्या उत्तर छुपे हैं।

श्रीमती हरसिमरत कौर बादल का कहना था, ''युवाओं के दिमाग पर किसी भी चीज का गहरा असर पड़ता



संविधान लोगों का धर्म नहीं तय करता। पर लोगों को अपने धार्मिक कामकाज करने का अधिकार इसे क्यों देना पड़ा?

है। ये किताबें युवाओं के सीधे-सरल मनों (इंप्रेशनेबल माइंड्स) में जहर घोल रही हैं। इन्होंने पिछले छः-सात सालों में करोड़ों बच्चों के दिमाग में जहर घोल दिया है, जिसे अब कभी ठीक नहीं किया जा सकेगा।'' श्री यशवन्त सिन्हा का मानना था, ''ये किताबें छात्रों के दिमाग को एक सांचे में ढाल रही हैं।'' श्री अनंत गंगाराम गीते का भी मानना था, ''जहर फैलाने का काम हो रहा है।'' श्री दारा सिंह चौहान का कहना था कि, ''जो बच्चे नर्सरी में हैं... उनके दिमाग को बदलने की साजिश हो रही है।'' श्री लालू प्रसाद यादव की चिंता थी, ''आप लोग बोल रहे हैं कि इसे विदड्रा कीजिए लेकिन उन्होंने जो पढ़ लिया, देख लिया, वह कहां से विदड्रा होगा। उसने जो किताब घर में रख ली है, कॉपी कर ली है उसका क्या होगा?'' इसी क्रम में श्री नामा नागेश्वर राव का कहना था, ''आलरेडी जो उन्हें पढ़ाया जा चुका है वह तो बच्चों के मन में जा चुका है, उसे कैसे निकालेंगे।''

माननीय सांसदों की चिंताओं की प्रकृति और गहराई को समझने की जरूरत है। भारत के राजनीतिक नेतृत्व में व्याप्त आंशकाओं के अपने कारण हैं। लेकिन, छात्रों की चिट्ठियां इन चिंताओं से दूर एक अलग किस्म का विश्वास पैदा करती हैं।

पाठ्यपुस्तकें और समाज का यथार्थ

इन पाठ्यपुस्तकों पर कुछ टिप्पणियां इस तरह की आईं जैसे कि ये किताबें छात्रों में सामाजिक न्याय और समता के सवालों से दूर करती हों। यह आशंका दूर हो जाती है अगर किताबों को पढ़ने का उद्यम कर लिया जाए। ये पाठ्यपुस्तकें कोशिश करती हैं कि सामाजिक समता और न्याय के सवालों को यथार्थपरक और रोचक तरीके के साथ उठाया जाए। छात्रों की चिट्ठियां एक तरीके से पाठ्यपुस्तक के इस विश्वास को बल देती हैं कि बच्चों में 'न्याय की चाहना' नैसर्गिक रूप से होती है। पाठ्यपुस्तक का काम है उनकी इस चाहना और खोज को दोस्ताना तरीके से आगे बढ़ाए। छात्रों की चिट्ठियां कहती हैं-

इस किताब में रंगभेद का संक्षिप्त ब्यौरा एक बॉक्स में दिया गया है। इसके बारे में और सूचना दें। हम जानना चाहते हैं कि रंगभेद क्या है? वे लोग कौन हैं जो इससे पीड़ित हो रहे हैं? आज भी मानव समाज में इसका दबदबा क्यों बना हुआ है?

(रजत सोनी, 30.09.2011)

रगंभेद पर जो कविता है उसने मेरे दिल को छू लिया। पेज 54 की कविता पढ़कर मैं इतनी इमोशनल हो गई कि अपने से बड़ी उम्र के बच्चों को पढ़ाने लगी।

(सवनीत कौर, 30.6.09)

मैंने सुना है कि दलित शब्द पर रोक लगा दी गई है। लेकिन किताब में इस शब्द को बार-बार इस्तेमाल किया गया है। कृपया समस्या का समाधान करने की कोशिश करें।

(सौरभ वर्मा, 30.7.11)

पाठ्यपुस्तकें का भविष्य और छात्रों की अपेक्षाएं

अपनी दो दिनी-बहस में संसद में नेशनल कांफ्रेंस के एक सांसद शरीफुद्दीन शारिक के इकलौते अपवाद को छोड़कर यह स्वर दोहराया गया कि राजनीति शास्त्र की ये किताबें बेहद खतरनाक हैं। माननीय सांसदों ने बहस से कुछ ऐसा माहौल बनाया कि इन किताबों को न केवल वापस लेने की बल्कि इसके लेखकों को दंडित करने की जरूरत है। संसद ने पूरे देश के छात्रों और विद्वानों को एक अयाचित संदेश दे दिया कि वे शिक्षा जगत में लोकतांत्रिकरण और बाल-केंद्रियता के लिए चल रहे सुधारों के पक्ष में नहीं हैं।

विद्यार्थियों के बारे में इस तरह की मान्यताओं के राजनीतिक निहितार्थ भी हैं। उन्हें कोरा और तर्कहीन समझना, उन्हें शक्तिविहीन स्थिति में खड़ा करता है जहां उनके बारे में कोई भी निर्णय केवल वयस्क ले सकते हैं। इस तरह की मान्यताओं के साथ यह कैसे संभव है कि विद्यार्थियों में लोकतांत्रिक चेतना और संवैधानिक मूल्यों की समझ विकसित हो सके। जब विद्यार्थियों की अपनी क्षमताओं का विकास नहीं हो पाता तभी वे अलोकतांत्रिक और विषमता-मूलक राजनीतिक मूल्यों के शिकार बनते हैं। स्वयं विद्यार्थी यह कभी पसंद नहीं करता कि उसे शक्तिहीन बनाया या समझा जाए। ये किताबें विद्यार्थियों को ज्ञान-रचना और सीखने की प्रक्रिया में भागीदार बनाती हैं। संभवतः यही कारण है कि विद्यार्थियों के मन में इन पुस्तकों को लेकर गहरी अपेक्षाएं पैदा हुईं। साथ ही यह भी दिखाई देता है कि वयस्क नागरिक बनने की दहलीज पर खड़े इन छात्रों की अपेक्षाओं और माननीय सांसदों की बहस में एक असंगति है। आइए कुछ छात्रों की टिप्पणियां को देखकर उनके मानस को समझने की कोशिश करते हैं। छात्रों की चिट्ठियां कहती हैं कि -

मुझे उम्मीद है कि आप ऐसी किताबें बनाना जारी रखेंगे।

(प्रियंका कपूर, 21.6.11)

मेरे अनुसार इनमें किसी तरह के परिवर्तन की जरूरत नहीं है।

(आशी, 6.2.11)

'हेट्स ऑफ टू एनसीईआरटी टीम' 'सुपर्ब' 'माइंड ब्लोइंग' 'अमेजिंग वर्क' सच कहूं मैं आपकी किताब देख कर आश्चर्यचकित रह गया।

(अमन सिंह, 21.12.09)

एनसीईआरटी को बहुत ही व्यावहारिक और संवेदनशील दृष्टिकोण अपनाने पर जोरदार बधाई। कृपया ऐसी पुस्तकें लाना जारी रखें जिससे कि आने वाली पीढ़ी की किताबों से दूर रहने की इच्छा न हो।

(चन्दन कुमार, 17.6.09)

काम चालू रखें। 'थैंक्यू फार सच एन अमेजिंग टेक्स्ट बुक।'

(विवियन ब्रिटो, 13.1.09)

मुझे पता है कि भविष्य में भी एनसीईआरटी ऐसी अच्छी किताबें बनाना जारी रखेगी।

(शिवम खिलनानी, 1.6.8)

मुझे उम्मीद है कि आप भविष्य में भी इसी तरह की किताबें लेकर आओगे।

(अपर्णा बाबू जार्ज, कोचीन 21.4.8)

कृपया पुस्तक बिल्कुल भी न बदलें। 'इट्स जस्ट परफेक्ट'।

(मिनि लाहोटी, 27.3.8)

आपकी बुक मुझे बहुत अच्छी लगी। इसमें कोई परिवर्तन मत करना।

(चरनजीत सिंह कटवाल, 9.10.7)

मुझे उम्मीद है कि भविष्य में सभी विषयों में इसी तरह की किताबें उपलब्ध होंगी।

(आयशा, 21.3.6)

हमारे पास कुछ चिट्ठियां इस चर्चा के शुरू होने के बाद भी आईं। हम इनमें से दो चिट्ठियां आपसे साझा कर रहे हैं। इन चिट्ठियों के आधार पर किसी तरह का निष्कर्ष नहीं निकाला जा और न ही इनमें व्यक्त विचारों का सामान्यीकरण किया जा सकता है। इसके बाद भी ये चिट्ठियां एक तरह की छात्र अभिव्यक्ति से हमारा परिचय करवाती हैं।

मैं केंद्रीय विद्यालय कक्षा दस का छात्र हूं। मुझे डेमोक्रेटिक पॉलिटिक्स की दोनों किताबें वास्तव में पसंद आईं। लेकिन जब मुझे पता लगा कि जल्दी ही हमारी किताबों में कोई कार्टून नहीं होंगे तो मैं बहुत दुखी हुआ। हमारे कुछ सांसदों को कक्षा 11 की किताब में कुछ आपत्तिजनक कार्टून मिले हैं। यह दुखद है कि हमें फिर से रटने वाली पढ़ाई पर निर्भर होना होगा। इन सांसदों को ऐसा क्यों लगता है कि हम इतने छोटे बच्चे हैं कि इन कार्टूनों का मतलब न समझ सकें। असल में इन कार्टूनों को पढ़कर हम अपने पाठों को बेहतर तरीके से समझ सके। मुझे उम्मीद है कि सरकार का यह बेहद सख्त कदम सच्चाई में तब्दील नहीं होना चाहिए।

शुभम गोप, 16 मई 2012

मैं कोलकाता की एक छात्र हूं। मुझे उन अद्भुत किताबों से राजनीति शास्त्र सीखने का सौभाग्य मिला जो आपने हमारे लिए बनाई हैं।

कार्टूनों, सवालों, गतिविधियों और खबरों की कतरनों के साथ पुस्तक बहुत मनोहारी थी। यहां तक कि जब मैंने कक्षा 11-12 के लिए अपने विषयों का चयन किया तो उसमें राजनीति शास्त्र सबसे पहले आया।

उन्नी-मुन्नी और सभी कार्टूनों के कारण मैंने किताब बहुत पसंद की। नेहरू-अंबेडकर कार्टून के हालिया विवाद से मैं बहुत दुखी हुई। 'आपत्तिजनक कार्टूनों' (दरअसल ऐसा कुछ है नहीं) को हटाने के सुझाव से मैं सहम गई कि आगे आने वाले छात्रों को फिर से कल्पनाहीन किताबें पढ़नी पड़ सकती हैं। मैं कोई बहुत ताकतवर पैरोकार नहीं हूं और न ही मेरी आवाज का कोई खास वजन है लेकिन मैं अपने हृदय से पाठ्यपुस्तक निर्माण समिति को धन्यवाद और समर्थन व्यक्त करती हूं। आज मैं जो हूं, उस होने को आपने आकार दिया है।

सबसे ख़ास बात यह है कि आपकी किताबों ने मुझे उस विषय में रुचि लेने के लिए प्रेरित किया है, जिस पर हमेशा से 'विस्तृत' और 'उबाऊ' होने का ठप्पा लगा हुआ है।

ओइशी कुंदु, 18 मई 2012

स्कूली छात्रों के द्वारा तैयार किया गया एक ज्ञापन

राजनीति शास्त्र की किताबों में कार्टून शामिल करने का मुद्दा हमारे जैसे छात्रों से जुड़ा है। यह अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है कि इस मामले में हमारी आवाज को सुना जाए और हमारे मत को दर्ज किया जाए।

हमने इन किताबों में पाया कि कार्टून संदर्भ से जुड़े हुए हैं और चर्चा को संभव बनाते हैं। ये लोकतंत्र और समानता जैसी अमूर्त सैद्धांतिक संकल्पनाओं तथा वास्तविक जीवन के सामाजिक-राजनीतिक मुद्दों के बीच की दूरी पाटने में हमारी मदद करते हैं। इस तरह कार्टून कक्षा को ज्यादा जीवन्त और संवादपूर्ण बनाते हैं।

बहुत-सी समसामयिक राजनीतिक चर्चाओं से हम मीडिया की मदद से पहले ही जुड़े हैं। ऐसे में जब हम किताबों में कार्टून देखते हैं तो तर्कसंगत तरीके से सोच सकते हैं और उनकी आलोचनात्मक व्याख्या कर सकते हैं। यह अनुमान लगाना कि ये नाजुक मन-मानस को गलत रूप में गढ़ देंगे, अनावश्यक है।

अंतिम रूप से यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि हम भारत के भविष्य के नागरिक कुछ ही वर्षों में मतदान

कर रहे होंगे। हमारा दृढ़ विश्वास है कि कार्टून पाठ्यपुस्तकों के अभिन्न हिस्से बने रहने चाहिएं।

संभावनाओं की ओर इशारा करते कुछ सवाल



इस विवाद ने भारत में लोकतांत्रिक राजनीति और शैक्षिक बदलाव दोनों के सामने बहुत से नए सवाल और संभावनाएं प्रस्तुत की हैं। संसद की बहसें लोकतंत्र की संभावनाओं का आइना होती हैं। साथ ही लोकतंत्र में यह भी जरूरी है कि संसद सहित सभी संस्थाएं एक-दूसरे की स्वायत्तता का सम्मान करें और अपनी पूरक भूमिकाओं का विकास करें। इस बहस से प्रश्न यह खड़ा हुआ कि क्या हमारी संसद अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं की स्वायत्तता से परेशान है? क्या एक केंद्रीय सरकार ही समग्र लोकतांत्रिक संरचना और सभी प्रक्रियाओं की रहबरी करेगी? लोकतंत्र की संभावनाओं के लिहाज से इस विमर्श के निहितार्थ दूरगामी असर पैदा करेंगे।

शुरुआती प्रतिक्रियाओं में तात्कालिक चिंताओं का गहरा दबाव होता है। अब संभव है कि पाठ्यपुस्तकों पर लगे आरोपों को सजगता के साथ और व्यापक संदर्भ में देखने की कोशिश की जाए। भारत में दलित विमर्श के सामने भी नई संभावनाएं मौजूद हैं। सवाल उपजा है कि डॉ. अंबेडकर के लिए पैगम्बर जैसे दर्जे की मांग स्वयं दलित चेतना और बाबासाहब के मूल्यों से कितनी संगत है। दलितजन की दीर्घजीवी संभावनाएं समतामूलक समाज-निर्माण के लिए शिक्षा को जीवन की वास्तविकताओं के नजदीक लाने से जुड़ी हैं। तमाम मुश्किलों के बीच भी बहुत मुमकिन है कि दलित ऊर्जा पूरे देश को न्याय पर टिकी समग्र शिक्षा की ओर मोड़ दे। इस लिहाज से दलित ऊर्जा का कुल जोड़ भविष्य की बड़ी पूंजी है। लेकिन यह पूंजी दलितजन की तात्कालिक चिन्ताओं और दीर्घजीवी संभावनाओं से मिलकर बनती है। एक आशंका भी है। कहीं ऐसा न हो जाए कि दलितजन की तात्कालिक चिन्ताओं की आड़ में उनकी दीर्घजीवी संभावनाओं का अपहरण कर लिया जाए। आज एक ऐसे प्रयोग पर हमला हो रहा है जिसमें सीखने-सिखाने के काम को सामाजिक वास्तविकताओं से जोड़ने की कोशिशें हुईं। इसके दूरगामी निहितार्थ समझने होंगे। हमें अपने-आपसे पूछना होगा कि बाबासाहब के सामाजिक दर्शन, न्यायबोध और शिक्षाशास्त्र को बचाने और उसे समाज में पल्लवित करने की चुनौती हमसे किस तरह के सामाजिक-राजनीतिक-शिक्षाशास्त्रीय आलोड़न की मांग करती है?

इसी क्रम में इस स्थापना को ध्यान से देखने का अवसर बनता है कि दलित के हित की बात दलित ही सोच सकता है। इसी स्थापना से यह सवाल पैदा होता है कि किताब बनाने में कितने दलित शामिल थे, किताबों पर बात करने वाले छात्रों में कितने छात्र दलित हैं। किसी व्यक्ति की सामाजिक अवस्थिति क्या है तथा इस तथ्य का उसके विचारों पर कैसा और कितना असर पड़ता है, ये महत्त्वपूर्ण सवाल हैं। इस सवाल से 'ज्ञान के समकालीन समाजशास्त्र' के अंधेरे कोनों को रौशन करने का जरूरी काम लिया जाता है। लेकिन, न्याय की चाहना में ये सर्वसमावेशी और एकमात्र सवाल नहीं हैं। समग्र मनुष्य और सम्यक ज्ञान की रचना कैसे हो, ये अन्य सवाल हैं। इन सवालों का उत्तर इस संभावना में छुपा है कि मनुष्य अपनी जन्मगत पहचान को पार कर समग्रता की ओर बढ़ सकता है। महात्मा बुद्ध और डॉ. अंबेडकर स्वयं इस संभावना के उदाहरण और प्रेरक हैं। किसी व्यक्ति के जन्म के संयोग का सवाल अपना न्याय-धर्म छोड़ देता है अगर इससे लाठी का काम लिया जाने लगे। इसलिए जरूरी है कि इस सवाल को इसका न्यायोचित स्थान दिया जाए, न उससे कम और न ज्यादा। साथ ही इस सवाल को अन्य न्यायसंगत सवालों से जोड़कर ही सत्य और समता की



ओर बढ़ा जा सकता है।

मनुष्य की सामाजिक-आर्थिक स्थितियां उसकी पहचान को गढ़ती हैं, लेकिन किसी नियतिवादी तरीके से नहीं। शिक्षा का मकसद ही यही है कि वह मनुष्य को अपनी पहचान स्वयं गढ़ने में सक्षम बनाए। इस अर्थ में यह विमर्श गहरे आत्म-अवलोकन और जांच-पड़ताल का अवसर पैदा करता है। यह ध्यान दिलाता है कि दलित या गैर-दलित होना सामाजिक स्थितियों में छुपी अनेक पहचानों में से एक है, एकमात्र नहीं। भारत के संदर्भ में जाति की विशेष पहचान एक विभाजक रेखा है। लेकिन, व्यक्ति अपनी चेतना में परिवर्तन से इस विभाजन से पार पा सकता है। यह न केवल संभव है, बल्कि आवश्यक है। न्यायधर्मी राजनीति और मुक्तिकामी शिक्षा इसी संभावना की बुनियाद पर स्वयं को खड़ा करते हैं। अगर विभाजक रेखाओं की मौजूदगी को ही देखें तो उदाहरण के लिए एक अन्य विभाजन पढ़े-लिखे बनाम अनपढ़ (अक्सर दलित लेकिन हमेशा नहीं) में भी है। अगर शिक्षा सम्यक दृष्टि पैदा नहीं करती, डिक्लास-डिकास्ट नहीं कर पाती तब तो पढ़ाई-लिखाई से उपजी कोई भी बात शेष समाज की नजर में शंकास्पद हो जाती है। इस तरह समाज में सहजीवन का कोई तरीका नहीं बनता। समाज में समतामूलक सहजीवन और व्यक्ति में सम्यक ज्ञान संभव है, शिक्षा यह विश्वास दिलाती है। शैक्षिक सुध ाारों की यात्रा इसी विश्वास को प्रमाणित करने की ओर है।

आने वाले समय में यह विमर्श अपने महत्त्वपूर्ण योगदान के लिए याद रहेगा कि इसने पाठ्यक्रम निर्धारण के काम को आम छात्र की रुचि के दायरे में ला दिया। भविष्य के विचार-विमर्श में यह सवाल टाला नहीं जा सकेगा कि पाठ्यक्रम निर्धारण और पाठ्यपुस्तक निर्माण के तकनीकी और सैद्धांतिक से दिखने वाले काम में छात्र और शिक्षकों की भूमिका भी निर्णायक है। इसी के साथ भविष्य में बनने वाले पाठ्यक्रम और पाठ्यपुस्तकें सामाजिक संदर्भ से अछूते नहीं रह सकेंगे। कृष्ण कुमार **(टिप्पणी 3)** मैन्युहीम के हवाले से ध्यान दिलाते हैं कि पाठ्यक्रम दरअसल परस्पर संघर्षशील और एक-दूसरे पर हावी होने की कोशिश करते समूहों के हित के बीच आकार लेता है। ऐसी स्थिति में यह सवाल दूर तक पीछा करेगा कि भारत जैसे विविधता-भरे लोकतंत्र में इस सच्चाई से मुंह चुराकर चला जाएगा या इसके संयत तरीके खोजे जाएंगे।

निष्कर्ष

इन किताबों की मान्यता यही है कि किशोर और फिर युवा होता हुआ बालक अपने मूल स्वरूप में एक स्वतंत्र और समग्र व्यक्ति होता हैं। किताबें विद्यार्थी के इस विकास में सहयोगी बनाना चाहती हैं। ये किताबें इस विश्वास के साथ आगे बढ़ती हैं कि बच्चा स्थिर जातीय-वर्गीय पहचानों से प्रभावित जरूर होता है लेकिन उसकी अनुकृति-मात्र नहीं होता। हर बच्चे का अपना निजी स्वभाव और व्यक्तित्व होता है। बालक के बारे में एक दूसरी तरह की धारणा यह भी हो सकती है कि बच्चा अपने (जातीय-वर्गीय) समूह का प्रतिनिधि होता है। इस धारणा के अन्तर्गत शिक्षा का काम यह माना जाएगा कि वह बच्चे को अपने समूह के प्रतिनिधि के तौर पर सोचना-बोलना सिखाए। पाठ्यक्रम और पुस्तकों में संशोधन-परिवर्तन दोनों में किसी भी तरह की धारणा से प्रेरित हो सकता है। इसी क्रम में सवाल इस तरह से भी सामने आता है कि एक बच्चे के स्वरूप, स्वभाव और संभावनाओं को गढ़ने में विभिन्न कारक किस तरह से योगदान देते हैं। उदाहरण

के लिए, एक दलित बच्चे के लिए उसका 'दलित' होना और उसका 'बच्चा' होना किन रूपों में महत्त्वपूर्ण है। कहीं ऐसा तो नहीं है कि उसकी एक पहचान बाकी सब पहचानों को छुपा ले, दबा दे। ध्यान रखने की जरूरत है कि हर बच्चे के पास अपनी पहचान गढ़ने और चुनने का अवसर खुला रहना चाहिए। यकीनन अपनी पहचान गढ़ने और चुनने की प्रक्रिया अनेक बाधाओं और चुनौतियों से घिरी रहती है। और ठीक इसी कारण से हर शैक्षिक आयोजन के सामने जिम्मेदारी है कि वह बालक की इस स्वतंत्रता के पक्ष में खड़ा हो।

आज स्कूली शिक्षा के रंगमंच पर स्वतंत्र चिंतन की पूरी विरासत से आती मद्दिम-सी रोशनी है। रंगमंच पर कई तरफ से आवाजें आ रही हैं। इन्हीं आवाजों से एक है, किताबों के बारे में संसदीय बहस और दूसरी है, इन किताबों को पढ़ने वाले छात्रों की चिट्ठियां। दोनों ही आवाजें बहुत महत्त्वपूर्ण हैं लेकिन, अभी एक-दूसरे से दूर और अपरिचित हैं। मुमकिन है कि नाटक के अगले अंक में अलग-अलग आती इन आवाजों में दोस्ती-भरा संवाद हो। मुमकिन है कि त्रासदी-सा दिखने वाला यह नाटक अपने में सुखान्त होने की संभावना छुपाए हो। ◆

टिप्पणियां

1. इस पूरी बहस ने इस संभावना को भी सतह पर ला दिया है कि डॉ. अंबेडकर को लोकतांत्रिक शिक्षाशास्त्र के सिद्धांतकार के रूप में भी देखा जाए। डॉ. अंबेडकर अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'एनिहीलेशन ऑफ कास्ट' तथा कोलम्बिया विश्वविद्यालय के एक न्यूज लैटर में अपने बौद्धिक जीवन पर जॉन डिवी के प्रभाव का संकेत देते हैं। जॉन डिवी लोकतांत्रिक शिक्षा और बाल-केन्द्रित शिक्षाशास्त्र के अप्रतिम पैरोकार थे। देखें- अंबेडकर, बी. आर., 'एनिहीलेशन आफ कास्ट', सेक्शन 25 (4 और 5)
2. डॉ. अंबेडकर के एक जीवनीकार के. एन. कदम का कहना है, ''मेरा विश्वास है कि जब तक हम डॉ. बाबासाहब अंबेडकर के कोलम्बिया विश्वविद्यालय के शिक्षक जॉन डिवी के बारे में नहीं समझ लेते डॉ. अंबेडकर के बारे में समझना असंभव है।''

   'कदम के. एन., (1997) 'द मीनिंग ऑफ अंबेडकराइट कनवर्जन टू बुद्धिज्म एंड अदर एस्सेज', पापुलर प्रकाशन, मुम्बई, प्रिफेस, पृष्ठ 5
3. कृष्ण कुमार, 'क्युरिकुलम, सायक्लोजी एंड सोसायटी', ईपीडब्ल्यू, खंड 22, संख्या 12, मार्च 21, 1987